**International Journal of Advanced Research and Development**
**ISSN: 2455-4030**
**Impact Factor: RJIF 5.24**
**www.advancedjournal.com**
**Volume 3; Issue 2; March 2018; Page No. 1187-1189**

# व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि के अङ्गाधिकार में प्रातिपदिक स्वरूप

**विजेन्द्र कुमार आर्य**
शोधछात्र, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत।

## प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा में संस्कृत व्याकरण की गणना वेद के षडंगों में की जाती है। आचार्य पतञ्जलि ने महाभाष्य में व्याकरण की महिमा को मण्डित करते हुए षडंगों मे सबसे मुख्य व्याकरण को ही माना है।[1] संस्कृत व्याकरण परम्परा में अनेक आचार्य हुए हैं।[2] इसी व्याकरण की सुदीर्घकालीन परम्परा में आचार्य पाणिनि का नाम मुकुटमणि के समान विराजमान है। आचार्य पाणिनि ने व्याकरण के पॉच ग्रन्थों की रचना की है, इसी के आधार पर पाणिनि के व्याकरण को पंचाग व्याकरण के रूप में जाना जाता है। इन ग्रन्थों के नाम अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिकोष, लिङ्गानुशासन तथा गणपाठ हैं। पाणिनि की अमरकृति अष्टाध्यायी है जिसमें सूत्रों का प्रणनयन पाणिनि के द्वारा किया गया है। अष्टाध्यायी के आधार पर परवर्ती आचार्यो ने अनेक ग्रन्थों की रचनाएॅ की हैं।[3] इसी अष्टाध्यायी को ही आधार बनाकर सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आचार्य विश्वेश्वरसूरि ने व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि नामक ग्रन्थ की की रचना की हैं। व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि में अष्टाध्यायी के सूत्रों को आधार बनाकर ही व्याख्यान किया गया है। अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं और इन अध्यायों में चार–चार पाद है। इसी तरह का ही अनुकरण विश्वेश्वरसूरि ने व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि में किया है तथा व्याकरण के तथ्यों को उजागर किया है। इस व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि में अष्टाध्यायी के समान ही छठे अध्याय के चतुर्थपाद के प्रथम सूत्र से प्रारम्भ कर सप्तमाध्याय की समाप्ति पर्यन्त तक अङ्गाधिकार प्रकरण निहित है इस अङ्गाधिकार में प्रातिपदिक से सम्बन्धित अङ्कार्यो का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। इस विवेचन के व्याख्यान से पूर्व यहाँ पर प्रातिपदिक का स्वरूप को बताना आवश्यक है।

पाणिनीय अष्टाध्यायी में प्रातिपदिक के विषय में दो सूत्र बताये गये हैं। इनमें से प्रथम सूत्र में कहा गया है कि धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़कर अर्थवान् शब्दस्वरूप की प्रातिपदिक संज्ञा होती है[4] इस सूत्र में प्रातिपदिक के विषय में प्रत्यय का निषेध कर देने से कृत्प्रत्ययान्त तथा तद्धितप्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकती थी। इसलिए द्वितीय सूत्र में यह कहा गया है कि कृत्प्रत्ययान्त, तद्धितप्रत्ययान्त तथा समास की भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है।[5] इस तरह प्रातिपदिक के विषय में किंचित् विचार करके अब प्रातिपदिक से सम्बन्धित **अङ्ग** कार्यों में लौकिक संस्कृत से सम्बद्ध आगम, आदेश, लोप के एक–एक सूत्र पर विचार करते हैं। इससे यहाँ पर **अङ्ग** कार्य व्याकरण में किस तरह प्रयुक्त होते हैं इनका प्रतिपादन संक्षिप्तरूप में किया जा सकेगा।

## आगम सूत्र

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में शब्दों की सिद्धि करने के लिए आगम सूत्रों का प्रतिपादन किया है। आगम सूत्रों में आगमों को मित्रवत् किया जाता है। आगम किसी वर्ण को बिना परिवर्ति किये मित्रवत् शब्द सिद्धि करने में सहायक हैं। ये आगम अम्, नुट्, स्याट्, याट् इत्यादि हैं। इन आगमों में से 'याट्' आगम के माध्यम से यहाँ वर्ण सिद्धि दर्शायी जा रही है–

### याट् (याडापः)[6]

आबन्त अङ्ग से उत्तरवर्ती 'ङित्' प्रत्यय को 'याट्' आगम होता है। इसके उदाहरण 'रमायै' इत्यादि हैं। 'रमायै' की सिद्धि करने के लिये 'रमा+ङे' इस स्थिति में अनुबन्धलोप करने के बाद 'रमा+ए' बना तदनन्तर 'याट्' होकर 'रमा+याट्+ए' बनता है। इसके पश्चात् अनुबन्धलोप होकर 'रमा+या+ए' इस स्थिति में वृद्धि[7] होकर 'रमायै' रूप सिद्ध होता है।

प्रकृत सूत्र[8] में बताया गया है कि 'रमा+या+ए' इस स्थिति में 'आटश्च'[9] सूत्र से वृद्धि हो जानी चाहिए थी परन्तु यहाँ 'वृद्धिरेचि'[10] से वृद्धि की गई है अतः यहाँ पर 'वृद्धिरेचि'[11] से वृद्धि करने का कारण यह है कि 'याट्' प्रत्यय के अनुबन्ध करने पर जो टकार की इत्संज्ञा की जाती है वह यकार समुदाय में होने कारण 'आटश्च'[12] की प्रवृत्ति न होकर 'वृद्धिरेचि'[13] की प्रवृत्ति के लिए है।

स्थानिवद्भाव के विषय में यह बताया गया है कि अतिखट्वाय तथा अतिमालाय आदि में 'खट्वामतिक्रान्तोऽतिखट्वः' इस अर्थ में यहाँ समास और और उपसर्जन को ह्रस्व करने पर[14] 'अतिखट्व' बनाने के बाद 'अतिखट्व+ए' में स्थानिवद्भाव से आबन्त को 'याट्' आगम क्यों नहीं होता है? इसे बताते हैं कि 'अतिखट्वाय' यहाँ 'अतिखट्व+य' में दीर्घ[13] न करने पर 'ङी' तथा 'आप्' के ग्रहण में अदीर्घ का ग्रहण नहीं होता है अर्थात् ''जहाँ 'ङी' और 'आप्' का ग्रहण है वहाँ ह्रस्व होने के बाद दीर्घ होकर जो 'ई' 'आ' रूप होता है उसका स्थानिवद्भाव में ग्रहण नहीं होता है।[16]'' इस तरह इस वचन से 'याट्' आगम नहीं होता है और 'सुपि च' से दीर्घ कर लिये जाने पर लाक्षणिक अर्थात् सूत्र द्वारा बनाया गया होने के कारण 'याट्' आगम नहीं होता है क्योंकि लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है[17] अतः किसी भी स्थिति में 'याट्' आगम सम्भव नहीं है।

## आदेश सूत्र

वर्ण सिद्धि प्रक्रिया में आदेश किस तरह किये जाते है इनका प्रतिपादन अग्रिम सूत्र को दर्शाकर किया जा रहा है–

### अक् (युवोरनाकौ) [18]

अनुनासिक 'यु' और 'वु' के स्थान पर क्रमशः 'अन्' और 'अक्' आदेश होते हैं। जैसे कि 'भवनम्' इसमें 'भू' धातु[19] को 'ल्युट्'[20] प्रत्यय करके 'भवनम्' सिद्ध होता है तथा नन्द्यादि, ग्रहादि तथा पचादि धतुओं से यथासङ्ख्य 'ल्यु' 'णिनि' तथा 'अच्' प्रत्यय होते

हैं[21] और 'नन्दनः' इत्यादि सिद्ध होते हैं। 'कृ' धातु'[22] का 'णि' प्रत्यक्ष रूप है 'कारि' इसमें स्त्रीलिङ् में 'युच्'[23] प्रत्यय तदनन्तर अनुबन्धलोप करने के पश्चात् 'यु' के स्थान पर 'अन्' होकर 'कारि+अन्' की स्थिति में 'णि' का लोप[24] और तदनन्तर 'टाप्' आदि होकर प्रथमा के एकवचन में 'कारणा' रूप बनता है। 'आढ्यङ्करणः' में 'ख्युन्'[25] प्रत्यय होकर रूप सिद्ध होता है। 'सायम्' आदि शब्दों से 'ट्यु' और 'ट्युल्' प्रत्यय होते हैं तथा 'तुट्' आगम होता है[26] और 'सायन्तनम्' आदि सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार से 'कारकः' में 'ण्वुलतृचौ' से 'ण्वुल्'[27] 'इक्षुभषिका' में 'ण्वुच्'[28], 'रजकः' में 'ष्वुन्'[29] कोकोलूकिका में 'वुन्'[30] तथा 'आरीहणकः' में 'वुञ्'[31] होकर रूप सिद्ध होते हैं।

प्रकृतसूत्र[32] में 'युवोः' इस पद की व्युत्पति किस प्रकार की गयी है इसे बताते हैं कि 'युवोः' में 'यु' तथा 'वु' का द्वन्द्व समास समाहार में या इतेरतरयोग में है लेकिन यदि समाहारद्वन्द्व माना जायेगा तो नपुंसक होने से 'इकोऽचि विभक्तौ'[33] इस सूत्र से अजादि विभक्ति परे 'नुम्' आगम होना चाहिए और 'युवनः अनाकौ' ऐसा स्वरूप होगा और यदि इतरेतरयोगद्वन्द्व है तब तो द्विवचन में 'ओस्' प्रत्यय पर रहते 'यु' 'वु'+ओस' में 'उ' का 'यण्' 'व्' हो जाने पर 'युव्वोः ऐसा स्वरूप होना चाहिए लेकिन यहाँ 'युवोः' यह निर्देश कैसे सम्भव है? इसका समाधान देते हुए बताया गया हैं कि सूत्र में 'युवोः' इस निर्देश के कारण द्वन्द्व एकवद्भावपक्ष में 'आगम शासन अनित्य होता है अतः इस नियम से 'नुम्' आगम नहीं किया जाता है इसलिए 'यु' 'वु'+ङस्' अनुबन्धलोप करने के पश्चात् 'अस्' में 'उ' को गुण 'ओ' तथा 'अ' का पूर्वरूप करने पर युवोस् बनता है तथा रुत्व होकर 'युवोरनाकौ' बनता है।

समाहारद्वन्द्व में भी नपुंसकलिङ्ग नहीं होता है इसका कारण यह है कि लिङग् का अनुशासन नहीं करना चाहिए क्योंकि लिङ्ग तो लोक के आश्रित होता है और यदि यहाँ इतरेतरयोग द्वन्द्व ही मानें तो छान्दस (वैदिक) होने के कारण 'व्' वर्ण का लोप समझ लेना चाहिए क्योंकि कहा गया है कि 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' इस वचन से सूत्र भी वेदतुल्य होते हैं अतः इनमें भी व्यत्यय सम्भव है।

श्लोक में यह बताया गया हैं 'युवोः' यह यदि द्वित्व का निर्देश है अर्थात् इतरेतरयोगद्वन्द्व है तब तो द्विववचन में 'यण्' की प्रसक्ति है अर्थात् 'युव्वोः' ऐसा होने लगेगा और यदि एकवद्भाव है अर्थात् समाहार द्वन्द्व है तब यहाँ पुवद्रूप कैसे होगा यहाँ नपुंसक होना चाहिए और 'नुम्' आगम होना चाहिए।

## लोप

लोप करने की प्रक्रिया में वर्णों में किसी वर्ण विशेष का लोप हो जाने पर वर्ण की सिद्धि कैसे होती है उसे पाणिनि व्याकरण में किस तरह व्याख्यान करते है उसे यहाँ विश्वेश्वरसूरि के अनुसार प्रदर्शित किया जा रहा है–

### (षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि)[34]

अण् परे रहते षकार पूर्व में है जिसके ऐसा जो अन् तदन्त, तथा हन् एवं धृतराजन् भसंज्ञक अङ्ग के अन् के अकार का लोप होता है। इसके उदाहरण व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार ने 'ताक्ष्णः' 'भ्रौणघ्नः' 'धार्तराज्ञः' दिये हैं। इनमें से 'ताक्ष्णः' की सिद्धि के लिए 'तक्ष्णोऽपत्यम्' विग्रह में 'तक्षन्'+ङस्' में 'तस्यापत्यम्'[35] सूत्र से 'अण्' प्रत्यय, आदिवृद्धि करके 'ताक्षन्+अ' बनता है। षपूर्व होने के कारण 'षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि'[36] सूत्र से 'अण्' प्रत्यय, आदिवृद्धि करके 'ताक्षान्+अ' बना है। षपूर्व होने के कारण 'षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि'[37] सूत्र से 'क्ष' में विद्यमान अकार का लोप किया है, जिससे 'ताक्ष्+न्+अ' बनता है। षकार से परवर्ती नकार को णत्व होकर 'ताक्ष्ण' शब्द बनता है। 'एकेदशविकृतन्यायेन'[38] प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य होकर 'ताक्ष्णः' सिद्ध हो जाता है। यह षपूर्व का उदाहरण है। इसके बाद में जो उदाहरण दिया गया है वह उदाहरण 'धार्तराज्ञः' है, 'धार्तराज्ञः' की सिद्धि यहाँ स्पष्ट करते हैं 'धार्तराज्ञः' में 'धृतराज्ञोऽपत्यम्' विग्रह में 'धृतराजन्+ङस्' में 'तस्यापत्यम्'[39] सूत्र से 'अण्' प्रत्यय, तद्धितान्तप्रयुक्त प्रातिपदिकसंज्ञा, सुप् का लुक्' आदिवृद्धि, रपर करके 'धार्तराजन्+अ' बनता है। 'षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि'[40] सूत्रा से 'ज' में विद्यमान अकार का लोप किया है, जिससे 'धर्तराज्+न्+अ' बना है। जकार से परे नकार को 'स्तोः श्चुना श्चुः'[41] से चुत्व ञकार होने पर जकार और ञकार के संयोग में 'ज्ञ' वर्ण बन जाता है। अतः धार्तराज्ञः' शब्द बनता है। 'एकदेशविकृतन्यायेन'[42] प्रातिपदिकत्वात् स्वादिकार्य होकर 'धार्तराज्ञः' सिद्ध हो जाता है। यह 'धृतराजन्' का उदाहरण है।

अब इस सूत्र पर जो व्याख्यान व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार ने किया है उसे स्पष्ट करते हैं। व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिकार कहते है। कि यहाँ पूर्वादियो का पुनर्वचन अत् के लोप के लिए है, अथवा नियम के लिए है? अभिप्राय यह है किस के लिए यहाँ पर षपूर्वादियो का पुनर्वचन किया गया है क्योंकि यदि 'अल्लोपोऽनः'[43] से हुए 'अन्' के अकार का लोप है, अथवा 'नस्तद्धिते'[44] से हुए टिलोप का अत्लोप एवं टिलोप उस समुदाय की अपेक्षा कर सामान्य रूप से 'अन्'[45] से प्रकृतिभाव होता है, तब यह आरम्भ अत् लोप के लिए होगा, और यदि 'अण्' पर रहते 'नस्तद्धितेः'[46] से हुए टिलोप का ही 'अन्'[47] से प्रकृतिभाव होता है, तब यह आरम्भ सिद्ध होने से नियम के लिए है। इस तरह यहाँ दोनों पक्षों को दर्शाकर अब षपूर्वादियों का पुनर्वचन अत् के लोप के लिए है, अथवा नियम के लिए है इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'षपूर्वादियों का पुनर्वचन' 'अत्' के लोप के लिए है क्योंकि 'अल्लोपोऽनः'[48] से हुये 'अन्' के अकार का तथा 'नस्तद्धिते' से हुए टिलोप का अत्लोप एवं टिलोप इस समुदाय की अपेक्षा कर सामान्य रूप से 'अन्'[49] से प्रकृतिभाव होता है, तब यह आरम्भ अत् लोप के लिए होगा। इस विषय यह कहते है। कि यदि 'अत्' लोप के लिए माने तों ऐसा नियम करने से अन्यत्र प्रकृतिभाव में उपधालोप की आपत्ति होगी क्योंकि यदि ऐसा नियम होगा कि 'षपूर्वादियों को ही 'अण्' परे रहते 'अत्' का लोप हो तो 'सामनः, वैमनः में सामन् वेमन् यह षपूर्वदियों में पठित नहीं है, अतः इसके उपधा 'अत्' के लोप की आपत्ति होगी, 'सामानः, वमनः' में 'साऽस्य देवता'[50] से अण् होने पर 'अन्' से प्रकृतिभाव होने से टिलोप नहीं हुआ है, एवं 'तक्षन्' इस प्रातिपदिक में 'अत्' के षपूर्व होने से 'ताक्ष्ण्यः' में 'तक्ष्णोऽपत्यम्' इस विग्रह में 'सेनान्तलक्षणकारिभ्यश्च'[51] से 'ण्य' होने पर परे में अण् नहीं होने से 'अन्' से होने वाला प्रकृतिभाव नहीं हो सकेगा। यहाँ 'ये चाभावकर्मणोः'[52] के द्वारा प्रकृतिभाव होने से टिलोप का अभाव है। इस नियम से यहाँ टिलोप नहीं होता है। इस तरह इस नियम में अव्याप्तिदोष है।

यदि यहाँ अन्य तरह से नियम माना जाये कि 'षपूर्वादियों' के 'अत्' का लोप हो तो 'अण्' पर रहते ही हो, अन्य पर रहते नहीं, तो इस नियम से 'ताक्ष्ण्यः' में दोष हट जाने पर भी 'सामनः' वैमनः, में अंत के लोप की आपत्ति होगी।

यदि यहाँ पर तन्त्र या आवृत्ति का आश्रयण करने से यदि दोनों तरह से नियम माना जाये कि 'षपूर्वादियों' को ही 'अण्' पर रहते 'अत्' का लोप हो, तथा षपूर्वादियों के अत् का लोप हो तो 'अण्' परे रहते ही हो, अन्य पर रहते नहीं, तो इससे 'सामान्यः', वैमन्यः, में अत् लोप की आपत्ति होगी, यहाँ 'तत्र साधुः'[53] से यत् प्रत्यय है। अतः ठीक ही कहा है कि षपूर्वादियों का पुर्वचन 'अत्' के लोप के

लिए है। इसे नियम मानने पर अन्यत्र प्रकृतिभाव से उपधालोप की आपत्ति होगी।

## सन्दर्भ


1. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च, प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान भवति। महाभाष्य. 1.1.1
2. ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच, ब्रहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भारद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः। महाभाष्य 1.1.1.
3. प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण। महाभाष्य. 1.1.1
4. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् । अष्टा. 1.2.45
5. कृत्तद्धितसमासाश्च । अष्टा. 1.2.46
6. व्या.सि.सु.नि. 7.3.113
7. वृद्धिरेचि । अष्टा. 6.1.85
8. व्या.सि.सु.नि. 7.3.113
9. अष्टा. 6.1.87
10. अष्टा. 6.1.85
11. अष्टा. 6.1.85
12. अष्टा. 6.1.87
13. अष्टा. 6.1.85
14. गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य । अष्टा. 1.2.48
15. सुपि च । अष्टा. 7.3.102
16. ङ्याब्ग्रहणेऽदीर्घः इति । म.हा. 7.3.113
17. लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् । परि. 114
18. व्या.सि.सु.नि. 7.1.1
19. ध.पा.भ्वा.पृ. 3
20. ल्युट् च । अष्टा. 3.3.115
21. नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । 3.1.134
22. ध.पा.भ्वादिगण.
23. ण्यासश्रन्थो युच् । 3.3.107
24. णेरनिटि । 6.4.51
25. आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन् । अष्टा. 3.2.56
26. सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च । अष्टा. 4.3.23
27. ण्वुल्तृचौ । अष्टा. 3.1.133
28. पर्यायार्हर्णोत्पतित्तिषु ण्वुच् । अष्टा. 3.3.111
29. शिल्पिनि ष्वुन् । अष्टा. 3.1.145
30. द्वन्द्वाद् वुन् वैरमैथुनिकयोः । अष्टा. 4.3.125
31. वुञ्छण्कठजिलसेनिरढञ्ण्यय० । अष्टा. 4.2.79
32. युवोरनाकौ । व्या.सि.सु.नि. 7.1.1
33. अष्टा. 7.1.73
34. व्या.सि.सु.नि. 6.4.135
35. अष्टा. 4.1.92
36. अष्टा. 6.4.135
37. अष्टा. 6.4.135
38. परि.पृ.147
39. अष्टा.4.1.92
40. अष्टा. 6.4.135
41. अष्टा.8.4.40
42. परि.पृ. 147
43. अष्टा 6.4134.
44. अष्टा. 6.4.144
45. अष्टा. 6.4.167
46. अष्टा. 6.4.144
47. अष्टा. 6.4.167
48. अष्टा. 6.4.134
49. अष्टा. 6.4.167
50. अष्टा. 4.2.24
51. अष्टा. 4.1.152
52. अष्टा. 5.4.168
53. अष्टा. 5.4.98
54. अष्टाध्यायी सूत्रपाठ, पाणिनि, सम्पादक–ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ ,सोनीपत वि. स. 2050
55. काशिकावृत्तिः, न्यासपदमंजरीसंहिता, द्वारिकादास, प्राच्य भारतीय प्रकाशन, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, 1965
56. धातुपाठ, सम्पादक – ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत वि. स. 2050
57. परिभाषेन्दुशेखर, नागेशभट्ट,, संपादक विश्वनाथ मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 1985
58. महाभाष्यम् ,पतञ्जलि प्रदीपोद्योतसहितम्, सम्पादक – श्री गुरुप्रसाद शास्त्री तथा बालशास्त्री, भाग 1–4, वाणी विलास प्रकाशन कचौड़ी गली बनारस, तृतीय संस्करण, 1967
59. व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि, विश्वेश्वरसूरिकृत प्रथमो भाग, राजस्थान पत्रिका, श्यामगढ़ की हवेली, उदयमन्दिर मार्ग / मानी का हत्था, पावटा 'बी' रोड, जोधपुर ;राजस्थान
60. व्याकरणसिद्धान्तसुधनिधि,विश्वेश्वरसूरिकृत, द्वितीयो भाग राजस्थान संस्कृत अकादमी, ई–179, रमेश मार्गः सी–स्कीम, जयपुरम्, राजस्थान
61. सरस्वती, दयानन्द, अष्टाध्यायीभाष्यम् तृतीयाध्यायान्तम्, आर्ष साहित्य मण्डल अजमेर – 1985
62. संस्कृत–हिंदी कोश, आप्टे, वामन शिवराम, न्यु भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, 2009